

इस्लाम यानी भाई चारा या कत्लेआम ?



एक बार प्रसिद्ध लेखक सलमान रुश्दी ने पूछा था, "जिस मजहबी विश्वास में मुसलमानों की इतनी श्रद्धा है, उसमें ऐसा क्या है जो सब जगह इतनी बड़ी संख्या में हिंसक प्रवृत्तियों को पैदा कर रही है?" दुर्भाग्य से अभी तक इस पर विचार नहीं हुआ। जबकि पिछले दशकों में अल्जीरिया से लेकर अफगानिस्तान और लंदन से लेकर श्रीनगर, बाली, गोधरा, ढाका तक जितने आतंकी कारनामे हुए, उनको अंजाम देने वाले इस्लामी विश्वास से ही चालित रहे हैं। अधिकांश ने कुरान और शरीयत का नाम ले-लेकर अपनी करनी को फख से दुहराया है। इस पर ध्यान न देना राजनीतिक-बौद्धिक भगोड़ापन ही है।

कानून और न्याय-दर्शन की दृष्टि से भी यह अनुचित है। सभ्य दुनिया की न्याय-प्रणाली किसी अपराधी, हत्यारे के अपने बयान को महत्व देती है। उसकी जांच भी होती है। मगर उसे उपेक्षित कभी नहीं किया जाता, क्योंकि उससे हत्या की प्रेरणा (मोटिव) का पता चलता है। अतः जब अनगिनत जिहादी, बार-बार अपने कारनामों का कारण कुरान का आदेश बता रहे हों, तब इससे नजर चुराना आतंकवाद को प्रकारान्तर से बढ़ावा देना ही हुआ। इससे नए-नए जिहादी बनने कैसे रुकेंगे? आखिर, दुनियाभर में मुसलमान अपने को आत्मघाती मानव-बम में कैसे बदलते रहते हैं, किस प्रेरणा से?

विचित्र बात है कि जिहादियों द्वारा हमले की घटनाओं को "आतंकवाद" कहा जाता रहा है, जबकि खुद हमला करने वाले अपने काम को युद्ध, 'होली वार' कहते रहे हैं। लेकिन इसे नजरअंदाज कर, उनसे पीड़ित लोग उसे "आतंक" कहते हैं! यह तो निमोनिया को मौसमी बुखार कहने जैसी बुनियादी भूल है। रोग की पहचान में ही गलती, बल्कि जानबूझकर की गई गलती। तब इलाज हो तो कैसे?

एक गलती दूसरी गलती की ओर ले गई। हमला करने वाले सामान्य लोग हैं, मानवीय रूप से उनमें कोई विशेषता या गड़बड़ी नहीं पाई गई है। मारे गए जिहादी हों या पकड़े गए या अपने सुरक्षित अड्डों से बयान जारी करने वाले, पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित करने वाले, मदरसे चलाने वाले, जिहादी प्रशिक्षण देने वाले, साथ ही मौका मिलने पर आई.एस.आई. और सी.आई.ए. से संवाद और समझौते करने वाले... ये सभी मुसलमान बिल्कुल सामान्य तरीके से सोचने-समझने, लिखने-बोलने वाले पाए गए हैं। लेकिन जब देखो, उन्हें 'पागल', 'सिरफिरा' कहा जाता है, जबकि अपनी ओर से वे अपने को सैनिक, 'कमांडर', 'चीफ', 'शेख', 'खलीफा' आदि कहते, कहलाते हैं।

ध्यान दें, उनके समर्थक भी दुनियाभर के लाखों, करोड़ों सामान्य मुसलमान ही हैं। ओसामा बिन लादेन, जवाहिरी, मुल्ला उमर या उमर अल शाशनी के प्रशंसक भी वैसे ही आम मुसलमान रहे हैं। बिन लादेन

की फोटो वाले खिलौने, पोस्टर, टीशर्ट आदि पाकिस्तान में बरसों लोकप्रिय रहे। उसे सामान्य मुसलमान बनाते, बेचते और खरीदते थे। याद रहे, पाकिस्तान सरकार और सामान्य स्थानीय अधिकारियों को भी उसमें कुछ गलत नहीं दिखता था। (अभी अगर खलीफा बगदादी की फोटो वाले खिलौने, टीशर्ट आदि पाकिस्तान या अरब के बाजारों में नहीं हैं, तो कारण मात्र यह है कि बगदादी ने सारे मुस्लिम शासकों को भी “काफिर” करार देकर उन्हें भी हटाने, मारने का नारा दे रखा है। इसलिए मुस्लिम सत्ताधारी बगदादी के प्रति उत्साही नहीं, और उसके प्रति वही उदारता नहीं है जो बिन लादेन के लिए थी।)

वही स्थिति कश्मीर में हुर्रियत, लश्कर, हिज्बुल आदि गुटों के नेताओं, समर्थकों, कार्यकर्ताओं की है। जब भी, जो भी इनसे मिला, सबने पाया है कि वे बड़े सलीकेदार, सामान्य लोग हैं। वैसे ही व्यवहार करते हैं जैसे कोई और। सिमी, इंडियन मुजाहिदीन के लोग और समर्थक भी इसी तरह सामान्य लोग रहे हैं। अभी जाकिर नाइक को लेकर कुछ बावेल हो रहा है, मगर केवल इसलिए क्योंकि बंगलादेश के जिहादी उसके प्रशंसक थे। लेकिन बरसों से जाकिर के लाखों मुसलमान प्रशंसक रहे हैं। जबकि 2006 में मुंबई में ही सीरियल आतंकी हमलों में जाकिर का नाम प्रमुखता से आ चुका था। उसकी संस्था आई.आर.एफ. में ही बैठकर आतंकियों ने योजनाएं बनाई और अंजाम दिया। वैसे भी जाकिर बिन लादेन का खुला समर्थक है और सारे मुसलमानों को आतंकी बनने की जरूरत बता चुका है। यानी, जाकिर भी सामान्य व्यक्ति है, बल्कि इस्लाम का जाना-माना विद्वान है। अभी उसके समर्थन में कितने ही भारतीय मुस्लिम नेता, संगठन और आलिम सामने आ चुके हैं।

यानी, इनमें कोई भी पागल या सिरफिरा नहीं है। फिर भी, हर आतंकी घटना के बाद हमलावरों, उनके प्रशिक्षकों, सरपरस्तों आदि को थोक भाव में ‘पागल’ या ‘भटके हुए’ आदि कहा जाता है। मजा यह कि ओसामा या उमर का बचाव करने वाले भी आतंकी हमलों के बाद हमलावरों को ‘सिरफिरे’ कह देते हैं। यानी, जिहादियों को सिरफिरे कहना केवल कूटनीति है – दोतरफा कूट। जिहाद का निशाना बनने वाले और जिहादियों के समर्थक, दोनों समय-समय पर उन्हें ‘सिरफिरे’ कहते हैं, ताकि असली बात का बचाव हो। असली बात इतनी सीधी है कि उसे न पहचानना और तदनु रूप उपाय न करना एक अर्थ में आश्चर्यजनक है। जिहादियों की अपनी घोषणाओं, नारों, दस्तावेजों में, उन्हें प्रेरित करने वाली किताबों में, हर जगह मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा है कि उनका उद्देश्य ‘काफिरों’ के विरुद्ध मजहबी युद्ध चलाना है – तब तक ‘जब तक दुनिया की सारी धरती अल्लाह की न हो जाए।’ जब तक ‘निजामे-मुस्तफा’ पूरी दुनिया में कायम न हो जाए। इसकी प्रेरणा, बल्कि आदेश उन्हें खुद ‘प्रोफेट मुहम्मद ने स्थायी रूप से दे रखा है कि ‘जो मुसलमान इसे भूल गए हैं, वे खुद काफिर और मौत के भागी हैं।’ इसीलिए, पाकिस्तानी तालिबान से लेकर इस्लामी स्टेट तक, कई जिहादी संगठनों ने मुस्लिम शासकों को भी निशाना बनाया।

जिहाद राजनीतिक युद्ध है, इसकी पुष्टि बड़ी सरलता से संपूर्ण इस्लामी इतिहास और मूल किताबों से होती है। इस में समझने के लिए ऐसा कुछ नहीं है, जिसके लिए विशेष संस्थान या शिक्षक के पास जाना पड़े। कम से कम बुनियादी बातों पर कहीं, कोई असहमति नहीं। जैसे, ‘इस्लाम ही एक मात्र सत्य है’, ‘प्रोफेट मुहम्मद सब से मुकम्मिल प्रोफेट थे और उनकी अवज्ञा या अपमान का दंड मौत है’, ‘मुहम्मद द्वारा किया गया व्यवहार हर मुसलमान के लिए अनुकरणीय और कानून है’, ‘कुरान अल्लाह के शब्द हैं; जो इस पर संदेह करे उसे मौत के घाट उतारो’, ‘मूर्तिपूजक और देवी-देवताओं को मानने वाले लोग सब से गंदे, घृणित होते हैं’, ‘सारी दुनिया को इस्लाम के झण्डे तले लाना है, मगर किसी के द्वारा इस्लाम

छोड़ने की सजा मौत है', 'जिहाद लड़ना मुसलमानों का सबसे पवित्र कर्तव्य है', 'जिहाद की राह में मरने वाला उसी क्षण जन्नत पहुंचता है, जहां सारी नियामतें उस की खातिर में तैयार रहती हैं।' इन बुनियादी बातों पर मुस्लिम आलिमों में कभी कहीं कोई मतभेद नहीं रहा। जो व्याख्यात्मक मतभेद हैं, वे इसके बाद। इन इस्लामी आदेशों, उदाहरणों को कैसे, कहां, कितना, लागू करें आदि।

सौभाग्य की बात है कि उपर्युक्त बातों को सिद्धांततः मानते हुए भी अधिकांश मुसलमान व्यवहार में उसे अक्षरशः लागू करने की चाह नहीं रखते। रोजी-रोटी, बाल-बच्चे, हंसी-खुशी, मेहनत-मशक्कत आदि ही उनका पूरा ध्यान या समय खा जाती हैं, लेकिन जो भी मुसलमान उन बातों को दिल से लगा ले, उसके लिए अल कायदा या इस्लामी स्टेट बिल्कुल सही और जरूरी लगने लगते हैं। किशोर और युवा सहज आदर्शवादी होते हैं, इसलिए जिसे वे बातें छू जाएं वह इस्लामी स्टेट का रास्ता पकड़ता है या उसकी मदद करने लगता है।

इस स्पष्ट स्थिति को जान-बूझकर न पहचानना ही पिछले तीन दशकों से हाल बिगड़ते जाने की वजह रही है। कुछ मुसलमानों ने गैर-मुसलमानों के खिलाफ और कुरान का शासन सारी दुनिया पर लागू करने के लिए युद्ध छेड़ा हुआ है। इसे लड़ने वाले संगठन, कमांडर, कार्यकर्ता बदलते रहते हैं। मगर युद्ध की घोषणा, उसका लक्ष्य, तरीके आदि नहीं बदलते। यदि पूरे घटनाक्रम को या बीमारी को इसी स्पष्टता से पहचान कर उपाय सोचा जाता तो उत्तर, इलाज बिल्कुल आसान था।

किसी ने युद्ध छेड़ा है तो उससे लड़िए। आक्रमणकारी और उसके बाहरी-भीतरी समर्थकों को शत्रु मानकर उपाय कीजिए। उसके द्वारा किए जा रहे बहाने, ध्यान भटकाने, संधि या विराम के नाटक, शर्तबंदी, आदि-आदि की सही पहचान कीजिए कि उसमें असली-नकली क्या है और जीतने का उपाय कीजिए। याद रहे, युद्ध में जीतने के सिवा कोई लक्ष्य नहीं होता। इसके सिवा कोई और लक्ष्य रखना अपने को नष्ट करने की तैयारी है।

इस युद्ध का चरित्र मुख्यतः मानसिक है। सारे जिहादी नेताओं ने वैचारिक जमीन पर अपने कार्यकर्ता एकत्र किए हैं। सब की किताब एक है; दूसरे कारण गौण हैं। अतः उस जमीन को खिसकाए बिना उन्हें कमजोर नहीं किया जा सकता। इसीलिए बड़े-बड़े जिहादी संगठनों, सरदारों के खत्म होने के बाद दूसरे उभरते रहे हैं। बम, बंदूक, जहाज, विस्फोटक भरी गाड़ियां आदि उनके साधन हैं। ये सब अपने आप में समस्या नहीं हैं। आतंकवाद मूल समस्या नहीं है। आतंक एक साधन मात्र है इस्लाम का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए। यानी, आतंकवाद एक रणनीतिक, कार्यनीति मात्र है, मूल शत्रु नहीं। जैसे दो देशों के बीच युद्ध में मिसाइलें, बमवर्षक जहाज या पनडुब्बी किसी के साधन होते हैं, उसी तरह आतंक भी इस्लामवाद नामक पक्ष की ओर से एक साधन मात्र है। यह गैर-मुस्लिम विश्व और मुसलमानों में भी तटस्थ को अपनी इच्छा के प्रति झुकाने का एक हथियार है। उसके दूसरे हथियार भी हैं जो उसी उद्देश्य से प्रयोग होते रहे हैं। तरह-तरह के फतवे, खुमैनी और तालिबान जैसे राज्य, हर कहीं शरीयत कानून की जिद, मदरसों के पाठ्यक्रम और उनमें सचेत बदलाव, तसलीमा विरोध, यहूदी विरोध, जनसांख्यिकी दबाव, 'इस्लामोफोबिया' पर प्रस्ताव, इस्लामिक बैंकिंग, आप्रवासन नीति आदि भी उसी उद्देश्य के अन्य हथियार हैं। बड़ी सरलता से दिखता है कि यह सब करने, मांगने वाले जिहादियों के प्रति भी सद्भाव रखते हैं या कभी बिना किन्तु-परंतु उनकी भर्त्सना नहीं करते।

अतः मूलतः सारी लड़ाई इस्लामी विश्वासों की है। लड़ना उसी से होगा। कि कुरान की बातें, प्रोफेट के वे काम, उनके आदेश, उदाहरण, कानून और जन्नत आदि सब मानवीय कल्पनाएं हैं। यह बात और बहस बार-बार उठती रही है। कुरान की बातों की हैसियत तब भी यही थी जब वह पहली बार बताई गई थीं। उसे अरबों ने भी, एक भी जगह, स्वेच्छा से नहीं माना था। मुहम्मद के प्रोफेट होने पर संदेह, उनकी बातों को 'पागल' या 'कवि' की कल्पना, यह खुद मुहम्मद के समकालीनों ने कहा था। कुरान में ही इसके अनेक उल्लेख हैं, पर किसी को विचारों, तथ्यों से कायल करने की बजाए, तलवार से सबका काम तमाम कर ही प्रोफेट की जीत हुई थी।

इस प्रकार, सातवीं सदी में भी इस्लामी सिद्धांतों को किसी ने सही मानकर स्वीकार नहीं किया था। यह प्रोफेट की सारी आधिकारिक जीवनी और पूरा इतिहास खुद बताता है। तब ऐसी विचारधारा, मतवाद और उद्देश्य को आज गलत कहने में क्या गलत है? कुछ भी नहीं। 'भावनाओं' के नाम पर चुप्पी भी निरी मूर्खता रही है। यह तो युद्ध छेड़ने वाले की चाल में फंसना हुआ! वैसे भी, जो दूसरे मत-पंथों, विश्वासों, देवी-देवताओं को झूठा कहता है, उसके मजहब को झूठा कहने में अनुचित क्या है? वह भी तब जब कि इस्लाम की किसी भी बात के लिए कोई प्रमाण न सातवीं सदी में था, न आज है। तब भी तलवार, छल, दमन और युद्ध से काम निकाला गया था, आज भी तलवार और धमकी ही हर बात का उत्तर होती है।

गैर-मुस्लिम ही नहीं, मुसलमानों को भी उनके हरेक प्रश्न का उत्तर केवल मारने की कोशिश या धमकी से दिया जाता है। रुशदी से लेकर वफा, अय्यान, तारिक, तसलीमा आदि सब के संदेह का एक ही उत्तर है: "मार डालो!"

इस विचारधारा की सनक खत्म करना, या कम करना, सब से जरूरी और सब से आसान उपाय भी है। बात का जवाब बात से दो, मौत की धमकी से नहीं। अपनी 'भावना' की बात करने से पहले मूल इस्लामी किताबों में यहूदियों, ईसाइयों, हिन्दुओं, बौद्धों की भावनाओं को रौंदने वाली सारी बातों को खुल कर, इशतहार देकर खारिज करो। विभिन्न मतों का सह-अस्तित्व लाचारी में नहीं, सिद्धांत रूप में घोषित करो। इसकी खुली मांग, प्रचार, तथा इस्लामी मान्यताओं को कल्पनाएं बताना जरूरी है। वस्तुतः ऐसा मानने वाले मुसलमान भी बड़ी संख्या में हैं, लेकिन उन्हें सामने आने की छूट नहीं है। उन्हें इस्लाम से बाहर आने की खुली छूट घोषित करवाना भी जरूरी है। इस तानाशाही को दो-टुक टुकुराना होगा कि कोई इस्लाम में आ तो सकता है, इस से बाहर नहीं जा सकता। सातवीं सदी की जिद इक्कीसवीं सदी में चलते देना, वह भी हिंसा के बल पर, सब से बड़ी भूल रही है।

अतः इस पूरे वैचारिक-मजहबी ताने-बाने को खुली चुनौती देना, इसे गलत बताना, इस युद्ध को जीतने का पहला हथियार है। इस से संकोच करने से ही नए-नए अबोध जिहाद में जाते हैं। इसे उनकी अपनी गवाहियां शीशे की तरह साफ-साफ दिखाती रही हैं। इस्लामी विचारधारा बड़ी कमजोर है और आसानी से टूट सकती है, इसका रहस्य बात-बात में आने वाली धमकियों में है। किसी सत्य के टूटने का भय, इसलिए हिंसा की जरूरत भी नहीं होती। यह युद्ध के दोनों पक्षों को समझने की जरूरत है।

(लेखक जाने माने विचारक एवं इस्लामी मामलों के जानकार हैं। हिन्दी लेखक और राजनीति शास्त्र प्रोफेसर। जे.एन.यू., नई दिल्ली से सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी पर पीएच.डी.। महाराजा सायाजीराव

विश्वविद्यालय, बड़ौदा में राजनीति शास्त्र के पूर्व-प्रोफेसर। 'नया इंडिया' एवं 'दैनिक जागरण' के स्तंभ-लेखक। भारत के महान विचारकों, मनीषियों के लेखन का गहरा व बारीक अध्ययन। उनके विचारों की रोशनी में राष्ट्र, धर्म, समाज के सामने प्रस्तुत चुनौतियों और खतरों को समझना और उनकी जानकारी लोगों तक पहुंचाने के लिए लेखन का शगल। भारत पर कार्ल मार्क्स और मार्क्सवादी इतिहास लेखन, मुसलमानों की घर वापसी ; गाँधी अहिंसा और राजनीति ; बुद्धिजीवियों की अफीम ; भारत में प्रचलित सेक्यूलरवाद ; जिहादी आतंकवाद ; गाँधी के ब्रह्मचर्य प्रयोग ; आदि कई पुस्तकों के लेखक। प्रधान मंत्री द्वारा 'नचिकेता पुरस्कार' (2003) तथा मध्य प्रदेश राष्ट्रभाषा प्रचार समिति द्वारा 'नरेश मेहता सम्मान'(2005), आदि से सम्मानित।)

साभार <https://www.ugtabharat.com/> से